जैन वाक्य दर्शन

वाक्य भाषायी अभिव्यक्ति की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। वाक्य की परिभाषा को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम जैन आचार्यों की वाक्य की परिभाषा को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद वाक्य की परिभाषा के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक अवधारणाओं को और उनकी जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दार्शनिकों ने वाक्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह किस सीमा तक तर्क-संगत है।

प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे की परस्पर अपेक्षा रखनेवाले पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है।"[१] वाक्य की इस परिभाषा से हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वाक्य की रचना करने वाले पद अपने वाच्यार्थ का अवबोध कराने के लिए परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु उनसे निर्मित वह वाक्य अपने वाक्यार्थ का अवबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे शब्दों में अपना अर्थबोध कराने में वाक्य स्वयं समर्थ होता है किन्तु पद स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। जब सापेक्ष या साकांक्ष पद परस्पर मिलकर एक ऐसे समूह का निर्माण कर लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बनता है। संक्षेप में साकांक्ष/सापेक्ष पदों का निरपेक्ष/निःकांक्ष समूह वाक्य है। पदों की सापेक्षता और उनसे निर्मित समूह की निरपेक्षता ही वाक्य का मूल तत्त्व है। वाक्य का प्रत्येक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। वह दूसरे के बिना अपूर्ण-सा प्रतीत होता है। अपने अर्थबोध के लिए दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा रखने वाला पद साकांक्ष पद कहलाता है और जितने साकांक्ष पदों को मिलाकर यह आकांक्षा पूरी हो जाती है, वह इकाई वाक्य कही जाती है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार यहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद सापेक्ष या साकांक्ष होते हैं, वहाँ उन पदों से निर्मित वाक्य अपना अर्थबोध कराने की दृष्टि से निरपेक्ष या निराकांक्ष होता है। वस्तुतः परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले सापेक्ष या साकांक्ष पदों को मिलाकर जब एक ऐसे समूह ही रचना कर दी जाती है, जिसे अपने अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बन जाता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य में पदों की दृष्टि से सापेक्षता से और पद-समूह की दृष्टि से निरपेक्षता होती है, अतः वाक्य सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य एक इकाई है जो सापेक्ष या साकांक्ष पदों से निर्मित होकर भी अपने आप में निरपेक्ष होती है। पद वाक्य के आवश्यक अंग हैं और वाक्य इनसे निर्मित एक निरपेक्ष इकाई है। वाक्यखण्डात्मक इकाइयों से रचित एक अखण्ड रचना है।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्यपदीय ये दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें उस काल में प्रचलित वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं का एक परिचय मिल जाता है।

आरण्यतशब्दः संघातो जातिसंघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवशब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृति ।।
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम ।।

वाक्यपदीय - २/१-७

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप को लेकर दो महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। वैयाकरणिकों का मत है कि वाक्य एक अखण्ड इकाई है, वे वाक्य में पद को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। उनके अनुसार, वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण जिसका समर्थन न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शन करते हैं, वाक्य को खण्डात्मक इकाइयों अर्थात् शब्दों और पदों से निर्मित मानता है।इनके अनुसार पद वाक्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर कि क्रियापद (आख्यात पद) अथवा उद्देश्यपद आदि में कौन-सा पद वाक्य का प्राण है- इन विचारकों में भी मतभेद पाया जाता है। वाक्यपदीय के आधार पर प्रभाचन्द्र ने वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न मतों का उल्लेख किया है और उनकी समीक्षा की है-

(१) आख्यात पद ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आख्यातपद या क्रियापद ही वाक्य का प्राण है। वही वाक्य का अर्थ वहन करने में समर्थ है। क्रियापद के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता; अतः वाक्यार्थ के अर्थबोध में क्रियापद अथवा आख्यातपद ही प्रधान है, अन्य पद गौण हैं।

इस मत की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है या सापेक्ष होकर वाक्य है? यदि प्रथम विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि आख्यातपद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है तो यह मान्यता दो दृष्टिकोणों से युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रथम तो अन्य पदों से निपेक्ष होने पर आख्यातपद 'पद' ही रहेगा, 'वाक्य' के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा। दूसरे, यदि अन्य पदों से निरपेक्ष आख्यातपद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् क्रियापद को ही वाक्य माना जाये तो फिर आख्यातपद का ही अभाव होगा क्योंकि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद वह है, जो उद्देश्य और विधेयपद के अथवा अपने और उद्देश्यपद के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करता है। उद्देश्य या विधेयपद से निरपेक्ष होकर तो वह अपना अर्थात् आख्यातपद का स्वरूप ही खो चुकेगा; क्योंकि निरपेक्ष होने से वह न तो उद्देश्यपद और विधेयपद के सम्बन्ध को और न उद्देश्यपद अपने सम्बन्ध को सूचित करेगा। पुन: यदि आख्यातपद अन्य पदों से सापेक्ष होकर वाक्य है, तो वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है या पूर्णतया सापेक्ष होकर वाक्य। इसमें भी प्रथम मत के अनुसार यदि यह माना जाये कि वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है, तो इससे तो जैन मत का ही समर्थन होगा। पुन: यदि दूसरे विकल्प के अनुसार यह माना जाये कि वह पूर्ण सापेक्ष होकर वाक्य है, तो पूर्ण सापेक्षता के कारण उसमें वाक्यत्व का ही अभाव होगा और वाक्यत्व का अभाव होने से उसके प्रकृत अर्थ अर्थात् आख्यात स्वभाव का ही अभाव होगा, वह अर्द्धवाक्यवत् होगा; क्योंकि पूर्ण सापेक्षा होने के कारण उसे अपना अर्थबोध कराने के लिये अन्य किसी की अपेक्षा बनी रहेगी। अन्य किसी की अपेक्षा रहने से वह वाक्य के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि वाक्य तो सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संहति अर्थात् इकाई है। अत: जैनों के अनुसार कथंचित् सापेक्ष और कथंचित् निरपेक्ष होकर ही आख्यातपद वाक्य हो सकता हैं। इसका तात्पर्य है कि वह अन्य पदों से मिलकर ही वाक्य स्वरूप को प्राप्त होता है। आख्यातपद वाक्य का चाहे एक महत्त्वपूर्ण अंग हो, किन्तु वह अकेला वाक्य नहीं है।

यह सत्य है कि अनेक स्थितियों में केवल क्रियापद के उच्चारण से सन्दर्भ के आधार पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, किन्तु वहाँ भी गौणरूप से अन्य पदों की उपस्थिति तो है। 'खाओ' कहने से न केवल खाने की क्रिया की सूचना मिलती है, अपितु खानेवाले व्यक्ति और खाद्य वस्तु का भी अव्यक्त रूप से निर्देश होता है; क्योंकि बिना खानेवाले ओर खाद्य वस्तु के उसका कोई मतलब नहीं है। हिन्दी भाष में 'लीजिए' 'पाइए' आदि ऐसे आख्यातपद हैं, जो एक पद होकर भी वाक्यार्थ का बोध कराते हैं; किन्तु इनमें अन्य पदों का गौणरूप से संकेत तो हो ही जाता हैं संस्कृत भाषा में 'गच्छामि' इस क्रियापद के प्रयोग में 'अहं' और 'गच्छति' इस क्रियापद के प्रयोग में 'स:' का गौणरूप से निर्देश तो रहा ही है। क्रियापद को सदैव व्यक्त या अव्यक्त रूप में कर्त्तापद की अपेक्षा तो होती ही है। अत: आख्यातपद अन्य पदों से कथंचित् सापेक्ष होकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करता है- यह मानना ही समुचित है और इस रूप में यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

(२) पदों का संघात वाक्य है

बौद्ध दार्शनिकों का यह कहना है कि पदों का संघात ही वाक्य है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मात्र पद-समूह संघात नहीं है। मात्र पदों को एकत्र रखने से वाक्य नहीं बनता है। वाक्य बनने के लिए 'कुछ और' चाहिए और यह 'कुछ और' पदों के एक विशेष प्रकार के एकीकरण से प्रकट होता है। यह पदों के अर्थ से अधिक एवं बाहरी तत्त्व होता है। पदों के समवेत होने पर आये हुए इस 'अर्थाधिक्य' को ही संघातवादी वाक्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार संघातवाद में वाक्य को पदसमूह के रूप में और वाक्यार्थ को पदों के अर्थसमूह के रूप में स्वीकार किया जाता है, किन्तु यहाँ समूह या संघात ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि वह पदों के अर्थ में कुछ नयी बात को भी जोड़ता है। इस मत के अनुसार पदों के संघात में कुछ एक ऐसा नया तत्त्व होता है जो पदों के अलग-अलग होने पर नहीं होता है। उदाहरण के रूप में 'घोड़ा' 'घास' 'खाता है'- ये तीन पद अलग-अलग रूप में जिस अर्थ के सूचक हैं, इनका संघात या संहति अर्थात् 'घोड़ा घास खाता है' उससे भिन्न अर्थ का सूचक है। इस प्रकार संघातवादी पदों के संघात को ही वाक्यार्थ के अवबोध का मुख्य आधार मानते हैं।

संघातवाद की इस मान्यता की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखते हैं कि पदों का यह संघात या संघटन देशकृत है या कालकृत। यदि पदों के संघात को देशकृत अथवा कालकृत माना जाये तो यह विकल्प युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वाक्य के सुनने में क्रमश: उत्पन्न एवं ध्वंस होने वाले पदों का एक ही देश या एक ही काल में अवस्थित होकर संघात बनाना सम्भव नहीं हैं। पुन: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्यरूपता को प्राप्त पद वाक्य से भिन्न है या अभिन्न है। वह भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि भिन्न रहने पर वह वाक्यांश नहीं रह जायगा और वाक्य के अंश के रूप में उसकी प्रतीति नहीं होगी। पुन: जिस प्रकार एक वर्ण का दूसरे वर्ण से संघात नहीं होता उसी प्रकार एक पद का भी दूसरे पद के साथ संघात नहीं होता हैं पुन: यदि संघात अभिन्न रूप में है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है तो वह सर्वथा अभिन्न है या कथंचित् अभिन्न है। यदि सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो संघात संघाती के स्वरूप वाला हो जायेगा, दूसरे शब्दों में पद ही वाक्यरूप हो जायेगा और ऐसी स्थिति में संघात का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यदि यह संघात कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है तो ऐसी स्थिति में जैन मत का ही समर्थन होगा क्योंकि जैनाचार्यों के अनुसार भी पद वाक्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते है। इस रूप में तो यह मत जैनों को भी मान्य हो जायेगा।

(३) संघात में अनुस्यूत सामान्यतत्त्व (जाति) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य मात्र पदों का संघात नहीं है। वाक्य के समस्त पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से एक सामान्य तत्त्व, जिसे वे 'जाति' कहते हैं, उत्पन्न होता है और यह संघात में अनुस्यूत सामान्य तत्त्व ही वाक्य है। वाक्य में पदों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती है, अपितु वे सब मिलकर एक सामान्य तत्त्व का अर्थबोध देते हैं और यही वाक्यार्थ होता है। इस मत के अनुसार यद्यपि पदों के संघात से ही वाक्य बनता है फिर भी यह वाक्य से पृथक् होकर उन पदों के अर्थबोध सामर्थ्य को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि वाक्य का प्रत्येक पद अपनी सत्ता रखता है, तथापि वाक्यार्थ एक अलग इकाई है और पदों का कोई अर्थ हो सकता है तो वाक्य में रहकर ही हो सकता है; जैसे शरीर का कोई अंग अपनी क्रियाशीलता शरीर में रहकर ही बनाये रखता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। पद वाक्य के अंग के रूप में ही अपना अर्थ पाते हैं।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि जाति या सामान्यतत्त्व का तात्पर्य परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह दृष्टिकोण तो स्वयं जैनों को भी स्वीकार्य है। किन्तु यदि जाति को पदों से भिन्न माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में इस मत में भी वे सभी दोष उपस्थित हो जायेंगे जो संघतवाद में दिखाये गये हैं क्योंकि जिस प्रकार पदसंघात पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर ही अर्थबोध प्रदान करता है, उसी प्रकार यह जाति या सामान्य तत्त्व भी पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रहकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करा सकता है, क्योंकि सामान्य तत्त्व या जाति को व्यक्ति (अंश) से न तो पूर्णतः भिन्न माना जा सकता है और न पूर्णतः अभिन्न ही। पद भी वाक्य से न तो सर्वथा भिन्न होते हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। उनकी सापेक्षिक भिन्नाभिन्नता ही वाक्यार्थ की बोधक बनती है।

(४) वाक्य अखण्ड इकाई है

वैयाकरणिक वाक्य की एक अखण्ड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार वाक्य अपने आप में एक इकाई है और वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्त्व ही नहीं है। जिस प्रकार पद के बनाने वाले वर्णों में पद के अर्थ को खोजना व्यर्थ है उसी प्रकार वाक्य को बनानेवाले पदों में वाक्यार्थ का खोजना व्यर्थ है। वस्तुतः एकत्व में ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य में पद और वर्ण का विभाजन समीचीन नहीं है। वाक्य जिस अर्थ का द्योतक है, वह अर्थ पद या पदों के संघात या पद-समूह में नहीं है। वाक्य को एक इकाई मानने में जैन आचार्यों को भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वे स्वयं वाक्य को सापेक्ष पदों की एक निरपेक्ष इकाई मानते हैं। उनका कहना केवल इतना ही है कि वाक्य को एक अखण्ड सत्ता या निरपेक्ष इकाई मानते हुए भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उनकी रचना में पदों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अंश से पूर्णतया पृथक् अंशी की कल्पना जिस प्रकार समुचित नहीं, उसी प्रकार पदों की पूर्ण उपेक्षा करके वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है। वाक्य निरपेक्ष इकाई होते हुए भी सापेक्ष पद समूह से ही निर्मित है। अतः वे भी वाक्य का एक महत्वपूर्ण घटक हैं, अतः अर्थबोध में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

आचार्य प्रभाचन्द्र वाक्य के इस अखण्डता सिद्धान्त की समालोचना करते हुए कहते हैं कि 'वाक्य एक अविभाज्य एवं अपद इकाई है', यह मान्यता एक प्रकार की कपोल-कल्पना ही है क्योंकि पद के बिना वाक्य नहीं होता है, वाक्य में साकांक्ष पदों का होना नितान्त आवश्यक है। वाक्य में पदों की पूर्ण अवलेहना करना या यह मानना कि पद और पद के अर्थ का वाक्य में काई स्थान ही नहीं है, एक प्रकार से आनुभविक सत्य से विमुख होना ही है। प्रभाचन्द्र ने इस मत के सम्बन्ध् में वे सभी आपत्तियाँ उठायी हैं जो कि स्फोटवाद के सम्बन्ध में उठायी जा सकती हैं। यह मत वस्तुतः स्फोटवाद का ही एक रूप है, जो वाक्यार्थ के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करता है कि पद या उनसे निर्मित वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट (अर्थ का प्राकट्य) ही अर्थ का प्रतिपादक है।यदि शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में स्फोटवाद एकमात्र और अन्तिम सिद्धान्त नहीं है क्योंकि यह इसे स्पष्ट नहीं कर पाता है कि पदाभाव में अर्थका स्फोट क्यों नहीं हो जाता? अतः वाक्य को अखण्ड और निरवयव नहीं माना जा सकता। क्योंकि पद वाक्य के अपरिहार्य घटक हैं और वे शब्दरूप में वाक्य से स्वतन्त्र होकर भी अपना अर्थ रखते हैं, पुनः पदों के अभाव में वाक्य नहीं होता है अतः वाक्य को निरवयव नहीं कहा जा सकता।

(५) क्रमवाद

क्रमवाद भी संघातवाद का ही एक विशेषरूप है। इस मत के अनुसार पद को वाक्य का अपरिहार्य अंश तो माना गया है किन्तु पदों की सहस्थिति की अपेक्षा पदों के क्रम को वाक्यार्थ के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्रम ही वास्तविक वाक्य है। जिस प्रकार वर्ण यदि एक सुनिश्चितक्रम में नहीं हो तो उनसे पद नहीं बनता है, उसी प्रकार यदि पद भी निश्चित क्रम में न हों तो उनसे वाक्य नहीं बनेगा। सार्थक वाक्य के लिए पदों का क्रमगत विन्यास आवश्यक है। पद क्रम ही वस्तुतः वाक्य की रचना करता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। पदों का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का एक विशिष्ट अर्थ उनमें क्रमपूर्वक विन्यास-दशा में ही व्यक्त होता है। पदों का यह क्रमपूर्वक विन्यास ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करता है।

साथ ही क्रमवाद काल की निरन्तरता पर बल देता है और यह मानता है कि काल का व्यवधान होने से पद-क्रम टूट जाता है और पदक्रम के टूटने से वाक्य नष्ट हो जाता है। क्रमवाद में एक पद के बाद आनेवाले दूसरे पद को प्रथम पद का उपकारक स्वीकार किया जाता है। पदों का यह नियत क्रम ही उपचीयमान अर्थात् प्रकट होनेवाले अर्थ का द्योतक होता है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत को संघातवाद से अधिक भिन्न नहीं मानते हैं मात्र अन्तर यह है कि जहाँ संघातवाद पदों की सहवर्तिता पर बल देता है, वहाँ क्रमवाद क्रम पर। उनके अनुसार इस मत में भी वे सभी दोष हैं जो संघातवाद में हैं क्योंकि यहाँ भी देश और काल की विभिन्नता का प्रश्न उठता है- एक देश और काल में क्रम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव नहीं और अलग-अलग देश और काल में पदों की स्थिति मानने पर अर्थबोध में कठिनाई आती है। यद्यपि वाक्य-विन्यास में पदों का क्रम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है किन्तु यह क्रम साकांक्ष पदों में जो कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप से वाक्य में स्थित हैं, ही सम्भव है।

(६) बुद्धिग्रहीत तात्त्पर्य ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द या शब्द-समूह बाह्याकार मात्र है, वाक्यार्थ उसमें निहित नहीं है। अत: वाक्य वह है जो बुद्धि के द्वारा ग्रहीत है। बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से ही वाक्य बोला जाता है और उसी से वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। वाक्य का जनक एवं कारण बुद्धितत्त्व है। वक्ता द्वारा बोलने की क्रिया तभी सम्भव है, जब उसमें सुविचारित रूप में कुछ कहने की इच्छा होती है अत: बुद्धि या बुद्धितत्त्व ही वाक्य का जनक होता है। बुद्धि के अभाव में न तो वाक्य का उच्चारण सम्भव है और न श्रोता के द्वारा उनका अर्थग्रहण ही सम्भव है। अत: वाक्य का आधार बुद्धि अनुसंह्रति है।

जैनाचार्य प्रभाचान्द्र इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि तत्त्व ही वाक्य का आधार है तो वह द्रव्यवाक्य है या भाववाक्य । बुद्धि को द्रव्यवाक्य कहना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि द्रव्यवाक्य तो शब्द ध्वनिरूप है, अचेतन है और बुद्धितत्व चेतन है अत: दोनों में विरोध है। अत: बुद्धि को द्रव्यवाक्य नहीं माना जा सकता । पुन: यदि यह माने कि बुद्धितत्त्व भाववाक्य है तो फिर सिद्धसाध्यता का दोष होगा। क्योंकि बुद्धि की भाववाक्यता तो सिद्ध ही है। बुद्धितत्त्व को भाववाक्य के रूप में ग्रहण करना जैनों को भी इष्ट है। इस सम्बन्ध में बुद्धिवाद और जैन दार्शनिक एकमत ही हैं। वाक्य के भावपक्ष या चेतनपक्ष को बौद्धिक मानना जैनदर्शन को भी स्वीकार्य है।

(७)आद्यपद (प्रथम पद) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य के प्रथम पद का उच्चारण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। इस मत के अनुसार वक्ता का अभिप्राय प्रथमपद के उच्चारण मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अन्य पद तो विवक्षा को वहन करने वाले होते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि क्रिया से यदि कारक का विनिश्चय सम्भव है तो फिर कारक से क्रिया का निश्चय भी सम्भव होगा। यह सिद्धान्त यद्यपि वाक्य में कारक पद के महत्व को स्पष्ट करता है फिर भी पूर्णत: सत्य नहीं माना जा सकता। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि चाहे वाक्य का प्रथम पद अर्थात् कारकपद हो अथवा अन्तिम पद अर्थात् क्रियापद हो, वे अन्य पदों की अपेक्षा से ही वाक्यार्थ के बोधक होते हैं। यदि एक ही पद वाक्यार्थ के बोध में समर्थ हो तो फिर वाक्य में अन्य पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। दूसरे शब्दों में वाक्य में उनके अभाव का प्रसंग होगा। यह सही है कि अनेक प्रसंगों में प्रथम पद (कारक पद) के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। उदाहरण रूप में जब राज मिस्त्री दीवार की चुनाई करते समय 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता यह समझ जाता है कि उसे ईंट या पत्थर लाने का आदेश दिया गया है। यहाँ प्रथम पद का उच्चारण सम्पूर्णवाक्य के अर्थ का वहन करता है, किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वह 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द प्रथम पद के रूप में केवल उस सन्दर्भ विशेष में ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करते हैं, उससे पृथक् हो करके नहीं। राज के द्वारा उच्चरित पत्थर शब्द 'पत्थर लाओ' का सूचक होगा, जबकि छात्र-पुलिस संघर्ष में प्रयुक्त पत्थर शब्द अन्य अर्थ का सूचक होगा। अत: कारक पद केवल किसी सन्दर्भ विशेष में ही वाक्यार्थ का बोधक होता है,सर्वत्र नहीं। इसलिए केवल आदि पद या कारक पद को वाक्य नहीं कहा जा सकता। केवल 'पद' विशेष को ही वाक्य मान लेना उचित नहीं है, अन्यथा वाक्य में निहित अन्य पद अनावश्यक और निरपेक्ष होंगे और इस स्थिति में उनसे वाक्य बनेगा ही नहीं। पद सदैव साकांक्ष होते हैं और उन साकांक्ष पदों से निर्मित वाक्य ही निराकांक्ष होता हैं।

(८) साकांक्ष पद ही वाक्य है

कुछ विचारकों के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य के अंग के रूप में साकांक्ष होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस मत में प्रत्येक पद का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है। इस मत के अनुसार पदों का अपना निजी अर्थ उनके सहभूत या समवेत स्थिति में भी रहता है। यह मत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और उनके महत्व को स्पष्ट करता है। संघातवाद से इस मत की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ संघातवाद और क्रमवाद में पद को प्रमुख स्थान और वाक्य को गौण स्थान प्राप्त होता है, वहाँ इस मत में पदों को साकांक्ष मानकर वाक्य को प्रमुखता दी जाती है। यह मत यह मानता है कि पद वाक्य के अन्तर्गत ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे बाहर नहीं।

वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जैन मत भी साकांक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहता है, किन्तु वह पद और वाक्य दोनों को ही समान बल देता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार न तो पदों के अभाव में वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद ही अपने विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सक्षम होते हैं। पद वाक्य में रहकर ही अपना अर्थ पाते हैं। उससे स्वतन्त्र होकर नहीं। अत: पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व एवं सापेक्षिक महत्त्व है। दोनों में से कोई भी एक दूसरे के अभाव में अपना अर्थबोध नहीं करा सकता है। अर्थबोध कराने के लिए पद को वाक्य सापेक्ष और वाक्य को पद सापेक्ष होना होगा। जैन मत में ऊपर वर्णित सभी मतों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार किया जाता है किन्तु किसी एक पक्ष पर अनावश्यक बल नहीं दिया जाता है। उनका कहना यह है कि कोई पद और वाक्य एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं है। उनकी अर्थबोध सामर्थ्य उनकी पारस्परिक सापेक्षता में ही निहित है। विभिन्न पदों की पारस्परिक सापेक्षता (साकांक्षता) और पद एवं वाक्य की सापेक्षता में ही वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। परस्पर निरपेक्ष पद तथा वाक्य निरपेक्ष पद और पद निरपेक्ष वाक्य की न तो सत्ता ही होती है और न उनमें अर्थबोध कराने की सामर्थ्य ही होती है।

वाक्यार्थबोध सम्बन्धी सिद्धान्त

वाक्य के अर्थ (वाच्य-विषय) का बोध किस प्रकार होता है इस प्रश्न को लेकर भारतीय चिन्तकों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। नैयायिक तथा भाट्ट-मीमांसक इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। इनके विरोध में मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद की स्थापना करता है। हम इन सिद्धान्तों का विवेचन और जैन दार्शनिकों के द्वारा की गई इनकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में समुचित दृष्टिकोण क्या हो सकता है?

अभिहितान्वयवाद (पूर्वपक्ष)

कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में हमें सर्वप्रथम पदों के श्रवण से उन पदों के वाच्य- विषयों अर्थात् पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् उनके पूर्व में अज्ञात पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है और उनकी सम्बद्धता के बोध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का ज्ञान ही कारणभूत है, दूसरे शब्दों में पदों के अर्थपूर्वक ही वाक्यार्थ अवस्थित है।[२] संक्षेप में पदों से अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, फिर वक्ता के तात्पर्य अर्थात् वक्ता द्वारा किये गये विभक्ति प्रयोग के आधार पर उन पदों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्य) का ज्ञान होता है और इस अन्वयबोध (पदों के सम्बध ज्ञान) से वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है क्योंकि इसमें अभिहित अर्थात् पद द्वारा वाच्य पदार्थ के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में वाक्यार्थ का बोध तीन चरणों में होता है- प्रथम चरण में पदों को सुनकर उनके वाच्य अर्थात् पदार्थों का बोध होता है उसके पश्चात् दूसरे चरण में उन पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है। तब तीसरे चरण में इस अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य से स्वतन्त्र पदों (शब्दों) का एक अलग अर्थ होता है और पदों के इस अर्थ के ज्ञान के आधार पर ही वाक्यार्थ का निश्चय होता है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ का बोध पदों के अर्थबोध पर ही निर्भर करता है, पदों के अर्थ से स्वतन्त्र होकर वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों का वाक्य से एवं दूसरे पदों से निरपेक्ष स्वतन्त्र अर्थ भी होता है वाक्य पदों के अर्थों से निरपेक्ष किन्तु अपना अर्थ नहीं रखता है। पद वाक्य से स्वतन्त्र अपना अर्थ रखता है। जब तक पदों के अर्थों अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है। वाक्यार्थ के बोध के लिए दो बातें आवश्यक हैं- प्रथम पदों के अर्थ का ज्ञान और दूसरे पदों के पारस्परिक सम्बध का ज्ञान। पुन: पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के भी चार आधार हैं- (१) आकांक्षा, (२) योग्यता, (३) सन्निधि और (४) तात्पर्य।

१. आकांक्षा– प्रथम पद को सुनकर जो दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होती है- वही आकांक्षा है। पुन: एक पद की दूसरे पद को जो अपेक्षा रहती है वही आकांक्षा है। आकांक्षारहित अर्थात् परस्पर निरपेक्ष-गाय, अश्व, पुरुष, स्त्री आदि अनेक पदों के उच्चारण से वाक्य नहीं बनता है। जब कि साकांक्ष अर्थात् परस्पर सापेक्ष पद ही वाक्य की रचना करते हैं।

२. योग्यता– 'योग्यता' का तात्पर्य है कि अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में विरोध या बाधा नहीं होना चाहिए अर्थात् उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना होना चाहिए। उदाहरणार्थ आग से सींचो- इस पद समुदाय में योग्यता नहीं है क्योंकि आग का सींचने से कोई सम्बन्ध है। अत: ऐसे असम्बन्धित या योग्यता से रहित पदों से सार्थक वाक्य नहीं बनता है।

३. सन्निधि– सन्निधि का तात्पर्य है- एक ही व्यक्ति द्वारा बिना लम्बे अन्तराल के पदों का उच्चारण होना। न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना अन्तराल के अर्थात् एक साथ बोले गये पदों से वाक्य बनते हैं और न एक व्यक्ति द्वारा लम्बे अन्तराल अर्थात् घण्टे-घण्टे भर बाद होने वाले पदों के उच्चारण से वाक्य बनता है।

४. तात्पर्य– वक्ता के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह भी वाक्यार्थ के बोध की आवश्यक शर्त है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यार्थ का सम्यक् निर्णय सम्भव नहीं होता है। विशेष रूप से तब जब कि वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द द्वयार्थक हो, जैसे 'सैन्धव', 'नव'। इसी प्रकार जब कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में या व्यंग्य रूप में प्रयुक्त किया गया हो या फिर वाक्य में कोई पद अव्यक्त रह गया हो। विभक्ति प्रयोग ही वक्ता के तात्पर्य को समझने का एक आधार होता है।

संक्षेप में, पदों को सुनने से प्रथम अनन्वित (असम्बन्धित) पदार्थ उपस्थित होते हैं फिर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य अर्थात् विभक्ति-प्रयोग के आधार पर उनके परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है।

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा[३]

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि यदि वाक्य को सुनकर प्रथम परस्पर असम्बन्धित या अनन्वित पदार्थों का बोध होता है और फिर उनका पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका यह अन्वय (सम्बद्धीकरण)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किस आधार पर होता है? क्या वाक्य से बाह्य किन्हीं अन्य शब्दों/पदों के द्वारा इनका अन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है या बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा इनका अन्वय होता है? प्रथम विकल्प मान्य नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण पदों के अर्थों को विषय करने वाला ऐसा कोई अन्वय का निमित्त भूत अन्य शब्द ही नहीं है, पुन: जो शब्द/पद वाक्य में अनुपस्थित हैं, उनके द्वारा वाक्यस्थ पदों का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि दूसरे विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि ये बुद्धि के द्वारा अन्वित होते हैं या बुद्धितत्त्व इनमें अन्वय/सम्बन्ध स्थापित करता है तो इससे कुमारिल का अभिहितान्वयवाद सिद्ध न होकर उसका विरोधी सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होता हैं क्योंकि पदों के परस्पर अन्वितरूप में देखनेवाली बुद्धि तो स्वयं ही भाववाक्यरूप है। यद्यपि कुमारिल की ओर से यह कहा जा सकता है कि चाहे वाक्य अपने परस्पर अन्वित पदों से भिन्न नहीं हो क्योंकि वह उन्हीं से निर्मित होता है, किन्तु उसके अर्थ का बोध तो उन अनन्वित पदों के अर्थ के बोध पर ही निर्भर करता है, जो सापेक्ष बुद्धि में परस्पर सम्बन्धित या अन्वित प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र का तर्क यह है कि पद अपने धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब वे कहे जाते हैं तब अपने अवयवों सहित कहे जाते हैं और उनके अर्थ का बोध उनके परस्पर अन्वित अवयवों के बोध से होता है, अर्थात् हमें जो बोध होता है वह अन्वितों का होता है, अनन्वितों का नहीं होता है। इसके प्रत्युत्तर में अपने अभिहितान्वयवाद के समर्थन हेतु कुमारिल यह तर्क दे सकते हैं कि लोक व्यवहार एवं वेदों में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए निरंश शब्द/पद का प्रयोग होता है केवल उनकी धातु, लिंग, विभक्ति या प्रत्यय का नहीं; धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि तो उनकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए उनसे पृथक् किये जाते हैं। एक शब्द एक वर्ण के समान अन्वयव (निरंश) होता है, उसके अर्थ को समझने के लिए कल्पना के द्वारा उसके अवयवों को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है। कुमारिल के इस तर्क के विरुद्ध प्रभाचन्द्र का कहना है कि जिस आधार शब्द को अपने अर्थबोध के लिए निरंश या अखण्ड इकाई माना जा सकता है उसी आधार पर वाक्य को भी निरंश माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वाक्य की संरचना को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को (कल्पना में) पृथक् किया जाता है। वस्तुत: वाक्य अखण्ड इकाई है। लोक व्यवहार में एवं वेदों में वाक्यों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति के लिए क्रिया की जा सके। वाक्य ही क्रिया का प्रेरक होता है, पद नहीं। अत: वाक्य एक इकाई है।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शब्द पद से धातु, लिंग, प्रत्यय आदि आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होते हैं उसी प्रकार पद भी वाक्य से आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होता हैं। पद अपने वाक्य के घटक पदों से अन्वित या सम्बद्ध होता है और अन्य वाक्य के घटक पदों से अनन्वित, असम्बद्ध या भिन्न (अनन्वित) होता है। द्रव्य वाक्य में शब्द अलग-अलग होते हैं किन्तु भाव वाक्य (बुद्धि) में वे परस्पर सम्बन्धित या अन्वित होते हैं।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वाक्यों से पृथक् शब्दों का अपना अर्थ होता हो, किन्तु जब वे वाक्य में प्रयुक्त किये गये हों, तब उनका वाक्य से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं रह जाता है। उदाहरण के रूप में शतरंज खेलते समय उच्चरित वाक्य 'राजा मर गया' या मैं तुम्हारे राजा को मार दूँगा' में पदों के वाक्य से स्वतंत्र अपने निजी अर्थ से वाक्यार्थ बोध में कोई सहायता नहीं मिलती है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का एक विशिष्ट अर्थ होता है जो प्रयुक्त शब्दों/पदों के पृथक् अर्थों पर बिलकुल ही निर्भर नहीं करता है। अत: यह मानना कि वाक्यार्थ के प्रति अनन्वित पदों के अर्थ ही कारणभूत हैं, न्यायसंगत नहीं है।

अन्विताभिधानवाद पूर्वपक्ष

मीमांसा दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा गया है। जहाँ कुमारिल भट्ट अपने अभिहितान्वयवाद में यह मानते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पहले पदार्थ अभिहित होता हो और उसके बाद उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है- वहाँ प्रभाकर अन्विताभिधानवाद में यह मानते हैं कि अन्वित पदार्थों का ही अभिधा शक्ति से बोध होता है। वाक्य में पद परस्पर सम्बन्धित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान (अन्वय) से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य से प्रयुक्त पदों का सामूहिक एक समग्र अर्थ होता है। वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ नहीं होता है।[४]

इस सिद्धान्त में पद से पदार्थ बोध के पश्चात् उनके अन्वय को न मानकर वाक्य को सुनकर सीधा अन्वित पदार्थों का ही बोध माना गया है इसलिए इस सिद्धान्त में तात्पर्य-आख्या-शक्ति की भी आवश्यकता नहीं मानी गई है। इस मत के अनुसार पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल अनन्वित पदार्थ में नहीं होता है, अपितु किसी के साथ अन्वित या सम्बन्धित पदार्थ में ही होता है। अतएव अभिहित का अन्वय न मानकर अन्वित का अभिधान मानना चाहिए, यही इस बात का सार है। यह मत मानता है कि वाक्यार्थ वाक्य ही होता है, तात्पर्य शक्ति से वाद को प्रतीत नहीं होता है।

उदाहरण के रूप में ताश खेलते समय उच्चरित वाक्य- 'ईंट चलो' के अर्थबोध में प्रथम पदों के अर्थ का बोध और फिर उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है अपितु सीधा ही वाक्यार्थ का बोध होता है, क्योंकि यहाँ ईंट शब्द ईंट का वाचक न होकर ईंट की आकृति से युक्त पत्ते का वाचक है और चलना शब्द गमन क्रिया का वाचक न होकर पत्ता डालने का वाचक है। इस आधार पर अन्विताभिधान की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में पद परस्पर अन्वित प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने परवर्ती पद से अन्वित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराता है अत: वाक्य को सुनकर अन्वितों का ही अभिधान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज्ञान) होता है।

अन्विताभिधानवाद की समीक्षा[५]

प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं-

प्रथमतः यदि यह माना जाता है कि वाक्य के पद परस्पर अन्वित अर्थात् एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अन्वित रूप में ही उनका अभिधान होता है तो फिर प्रथम पद के श्रवण से वाक्यार्थ का बोध हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में अन्य पदों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही प्रथम पद को वाक्यत्व प्राप्त हो जायेगा अथवा वाक्य का प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से वाक्यत्व को प्राप्त कर लेगा। क्योंकि पूर्वापर पदों के परस्पर अन्वित होने के कारण एक पद के श्रवण से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा। प्रभाचन्द्र के इस तर्क के विरोध में यदि अन्विताभिधानवाद की ओर से यह कहा जाये कि अविवक्षित (अवांछित) पदों के व्यवच्छेद (निषेध) के लिए अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ नहीं माना जा सकता है तो उनका प्रत्युत्तर यह होगा कि ऐसी स्थिति में अन्वित प्रथम पद के द्वारा जो प्रतिपत्ति (अर्थबोध) हो चुकी है, वाक्य के अन्य पदों के द्वारा मात्र उसकी पुनरुक्ति होगी अतः पुनरुक्ति का दोष तो होगा ही। यद्यपि यहाँ अपने बचाव के लिए अन्विताभिधानवादी यह कह सकते हैं कि प्रथम पद के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है अन्य पद उसके सहायक के रूप में गौण रूप से उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। अतः यहाँ पुनरुक्ति का दोष नहीं होता है किन्तु जैनों को उनकी यह दलील मान्य नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की यह मान्यता भी समुचित नहीं है कि पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों से अन्वित अन्तिम पद के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सम्बन्ध में जैनतार्किक प्रभाचन्द्र का कहना है कि जब सभी पद परस्पर अन्वित हैं तो फिर यह मानने का क्या आधार है कि केवल अन्तिम पद के अन्वित अर्थ की प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है और अन्य पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है।

प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद के पक्ष में यह तर्क दे सकते हैं कि उच्चार्यमान पद का अर्थ अभिधीयमानपद (जाना गया) से अन्वित न होकर गम्यमान अर्थात् पदान्तरों से गोचरीकृत पद से अन्वित होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पूर्व-पूर्व पद अपने उत्तरपद से अन्वित होता है अतः किसी एक पद से ही वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं होगा। उनकी इस अवधारणा की समालोचना में जैनों का तर्क य़ह है कि प्रत्येक पूर्वपद का अर्थ केवल अपने उत्तरपद से अन्वित होता है ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि अन्वय/सम्बद्धता सापेक्ष होती है अतः उत्तरपद भी पूर्वपद से अन्वित होगा। अतः केवल अन्तिम पद से ही वाक्यार्थ का बोध इस अन्विताभिधानवाद सिद्धान्त की दृष्टि से तो तर्क-संगत नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में मीमांसक प्रभाकर ने कहा है कि पदों के दो कार्य होते हैं प्रथम-अपने अर्थ का कथन करना और दूसरा पदान्तर के अर्थ में गमक व्यापार अर्थात् उनका स्मरण कराना। अतः अन्विताभिधानवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। किन्तु जैनों की दृष्टि में उनका यह मानना भी तर्क-संगत नहीं है, क्योंकि पद-व्यापार से अर्थ-बोध समान होने पर भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानना उचित नहीं है।

पुनः प्रभाचन्द्र का प्रश्न यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति पद का प्रयोग पद के बोध के लिए करते हैं या वाक्यार्थ बोध के लिए। पद के अर्थ बोध के लिए तो कर नहीं सकते क्योंकि पद प्रवृत्ति का हेतु नहीं हैं। यदि दूसरा विकल्प कि पद का प्रयोग वाक्य के अर्थबोध के लिए करते हैं- यह माना जावे तो इससे अन्विताभिधानवाद की ही पुष्टि होगी। इसके प्रत्युत्तर में जैनाचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि 'वृक्ष' पद के प्रयोग से शाखा, पल्लव आदि से युक्त अर्थ का बोध होता है। उस अर्थ बोध से 'तिष्ठति' (खड़ा है) इत्यादि पद स्थान आदि विषय का सामर्थ्य से बोध कराते हैं। स्थान आदि के अर्थबोध में 'वृक्ष' पद की साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होने से उसे उस अर्थ-बोध का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाए की वृक्षपद 'तिष्ठति' पद के अर्थ-बोध में परम्परा से अर्थात् परोक्षरूप से कारण होता है तो मानना इसलिए समुचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी मानना होगा कि हेतु वचन की साध्य की प्रतिपत्ति में प्रवृत्ति होती है और ऐसी स्थिति में अनुमान-ज्ञान भी शाब्दिक कहलायेगा, जो कि तर्कसंगत नहीं है।

पुनः मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि हेतुवाचक शब्द से होने वाली हेतु की प्रतीति ही शब्द-ज्ञान है, शब्द से ज्ञात हेतु के द्वारा जो साध्य का ज्ञान होता है उसे शाब्दिक ज्ञान न मानकर अनुमान ही मानना होगा अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा तो जैन दार्शनिक प्रत्युत्तर में कहेंगे कि फिर वृक्ष शब्द से स्थानादि की प्रतीत में भी अतिप्रसंग दोष तो मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार हेतु शब्द का व्यापार अपने अर्थ (विषय) की प्रतीति कराने तक ही सीमित है उसी प्रकार वृक्ष शब्द को भी अपने अर्थ की प्रतीति तक ही सीमित मानना होगा।

दूसरी आपत्ति यह है कि विशेष्यपद विशेष्य को विशेषण-सामान्य से, या विशेष-विशिष्ट से या विशेषण-सामान्य और विशेष (उभय) से अन्वित कहता है। प्रथम विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषण सामान्य से अन्वित करके होता है? यह मानने पर विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं है- क्योंकि विशेष्य पद का सामान्य-विशेषण से अन्वित होने पर विशेष-वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं होगा। दूसरा विकल्प मानने पर निश्चयात्मक-ज्ञान नहीं होगा-क्योंकि (मीमांसकों के अनुसार) शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे प्रतिनियत विशेषण से अपने उक्त विशेष्य में अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा क्योंकि विशेष्य में दूसरे अनेक विशेषण भी सम्भव हैं अतः अपने इस विशेष्य में अमुक विशेषण ही अन्वित है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वपक्ष अर्थात् मीमांसक प्रभाकर की ओर से यह कहा जाये कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उसे विशेष्य में अन्वय हो जाता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चरण किया गया है उसे तो वक्ता का अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है। अतः विशेषण का निर्णय सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाये कि वक्ता को अपने अभिप्राय का बोध होता ही है अतः वह तो प्रतिनियत विशेषका निश्चय कर ही लेगा।किन्तुऐसा मानने पर शब्दिक कथन करना अनावश्यक होगा; क्योंकि शब्द का कथन दूसरों का अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए होता है स्वयं अपने लिए नहीं। तीसरा विकल्प अर्थात् विशेष्यपद विशेष्य को उभय से अन्वित कहता है, यह माने पर उभयपक्ष के दोष आवेंगे अर्थात् न तो विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होगा और न निश्चयात्मक ज्ञान होगा।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ विशेष्य को क्रियापद और क्रिया-विशेषण से अन्वित मानने के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि पद से पद के अर्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है किन्तु ऐसा मानने पर तो रूपादि के ज्ञान से गंधादि का निश्चय भी मानना होगा, जो कि तर्कसंगत नहीं माना जा सकता है।अतः अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थों का ही कथन होता है पदों के अर्थ की प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है- ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयष्कर नहीं है।

वस्तुतः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही एकांगी हैं। जैन दार्शनिक अभिहितान्वयवाद की इस अवधारणा से सहमत हैं कि पदों का शब्द के रूप में वाक्य से स्वतन्त्र अर्थ भी होता है किन्तु साथ ही वे अन्विताभिधानवाद से सहमत होकर यह भी मानते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपने अर्थबोध के लिए परस्पर सापेक्ष होता है अर्थात् वे परस्पर अन्वित (सम्बन्धित) होते हैं और सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण के पश्चात् उससे हमें जो अर्थबोध होता है उसमें पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही प्रतीत होते हैं, निरपेक्ष नहीं है- क्योंकि निरपेक्ष पदों से वाक्य की रचना ही नहीं होती है। जिस प्रकार शब्द के अर्थबोध के लिए वर्णों की सापेक्षता आवश्यक है, उसी प्रकार वाक्य के अर्थबोध के लिए पदों की सापेक्षता/सम्बन्धितता आवश्यक है। जैनाचार्यों के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है। अतः वाक्यार्थ के बोध में पद सापेक्ष अर्थात् परस्परान्वित ही प्रतीत होते हैं।

यद्यपि इस समग्र विवाद के मूल में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ कार्य कर रही हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य पद सापेक्ष है। वे वाक्य में पदों की सत्ता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। जबकि अन्विताभिधानवाद में पदों का अर्थ वाक्य सापेक्ष है, वाक्य से स्वतन्त्र न तो पदों की कोई सत्ता ही है और न उसका कोई अर्थ ही है। वे पदों के अर्थ को वाक्य सापेक्ष मानते हैं। अभिहितान्वयवाद में पद, वाक्य की महत्त्वपूर्ण इकाई है जबकि अन्विताभिधानवाद में वाक्य ही महत्त्वपूर्ण एवं समग्र इकाई है, पद गौण है यही दोनों का मुख्य अन्तर है जबकि जैन दार्शनिक दोनों को ही परस्पर सापेक्ष और वाक्यार्थ के बोध में आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हैं और कहते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पद और वाक्य दोनों की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

संदर्भ

१. (अ) पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति।
-प्रमयेकमलमार्तण्ड, पृ० ४५८।
(ब) पदानां पुनर्वाक्यार्थं प्रत्यायने विधेयेऽन्योन्यनिर्मिततोपकारमनुसरतां वाक्यान्तरस्थपदाक्षेपारहितासंहतिर्वाक्यमभिधीयते।
-स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ९४१।
२. (अ) पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावतः।। मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्यपदी १११।
(ब) पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः।। मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्यपदी ३३६ ।
३. प्रमयेकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र), पृ० ४६४-६५।
४. देखें- काव्यप्रकाश आचार्य विश्वेश्वर पृ० ३७।
५. प्रमेयकमलमार्तण्ड ३/१०१ पृ० ४५९-४६४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org